उनका फोन

चंद्रशेखर दुबे

वैसे नाम तो उनका भला सा ही है, मगर वे अपने दायरे में 'दादाजी' के नाम से जाने जाते हैं। छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, नाते-रिश्तेवाले, पास-पड़ोस के, फेरीवाले, याचक इत्यादि सभी उन्हें 'दादाजी' ही कहते हैं। प्रौढ़ावस्था के कारण वे जगत् दादाजी बन गए हैं। अतएव मैं भी उनके इस बहुप्रचलित नाम से ही काम चला रहा हूँ।

इन दादाजी के घर में दो टेलीफोन हैं—एक बेटा-बहू के बेडरूम में और दूसरा बाहर डाइनिंग टेबल के पास। इन टेलीफोनों के अलावा उनके बेटे एवं बहू के पास मोबाइल फोन भी है। दोनों के अलग-अलग। उनका पोता भी मोबाइल लेने को कई दिनों से मचल रहा है। उसके पापा-मम्मी उसकी माँग ज्यादा दिनों तक टाल नहीं पाएँगे। वह अपना मोबाइल संभवत: शीघ्र ही पा लेगा। उसे मोबाइल मिल जाएगा तो उसकी छोटी बहन के मन में भी उसके लिए हिलोर उठेगी ही।

इन दादाजी के चिरंजीव वकील हैं। वकील के साथ-साथ वे एक राजनीतिक दल से भी जुड़े हुए हैं। सक्रिय कार्यकर्ता हैं। कुछ समाजसेवी संस्थाओं में भी उनकी अहम भूमिका है। दादाजी की बहू एक बैंक में अधिकारी के पद पर है। वे भी कुछ समाजसेवी संस्थाओं से जुड़ी हैं। पोता कॉलेज का छात्र है और पोती स्कूल की छात्रा है। इन सभी के व्यापक संपर्क हैं। इसीलिए इस घर में टेलीफोन की घंटियाँ प्राय: बजती रहती हैं—कभी बेडरूम में तो कभी डाइनिंग टेबल के पास, तो कभी मोबाइलों की निराली घंटियाँ। ये चारों अपने-अपने टेलीफोन अटेंड करते रहते हैं। टेलीफोनों पर हो रही बातचीतों का सिलसिला चला करता है। सुबह, शाम और रात को यह सिलसिला विशेषकर चलता है। दोपहर में ये चारों घर से बाहर रहते हैं। इसलिए दोपहर में सन्नाटा ही रहता है। कोई भूला-भटका टेलीफोन ही दोपहर में आता है। उसे कामवाली काशीबाई अटेंड कर माकूल जवाब दे देती है। कभी-कभी काशीबाई के भी टेलीफोन दोपहर में आ जाते हैं। छुट्टीवाले दिन तो दिन भर और देर रात तक टेलीफोनों की धूम मची रहती है। इधर से टेलीफोन किए जाते हैं, उधर से कहीं से आते रहते हैं। 'हलो-हलो', 'नमस्कार-नमस्कार', 'अच्छा ठीक है', 'धन्यवाद' आदि शब्दावली घर में गूँजती रहती है।

इस गहमागहमी में दादाजी की भूमिका मात्र दर्शक या श्रोता की ही रहती है; क्योंकि उनका टेलीफोन क्वथित ही आता है। आमतौर पर फोन घर के शेष चारों के ही आते हैं। दादाजी को कोई टेलीफोन करता ही नहीं। वे किसी के भी लिए जैसे काम के नहीं रहे। सभी के लिए अप्रासंगिक हो गए। उन्होंने अपने परिचितों, नाते-रिश्तेदारों आदि से कई बार कहा कि उनके घर में इतने सारे टेलीफोन हैं, किसी पर भी दादाजी को कभी-कभार याद कर लिया करो; मगर किसी को भी उनकी सुध नहीं आती है। सभी फोन करने की 'हाँ' करते हैं, मगर अपने इन आश्वासनों को कोई क्वथित ही पूरा करता है। एकाध बार उनके इस आग्रह को मान दे भी देते हैं तो बाद में उन्हें फिर भूल जाते हैं। मिलने पर ये फोन की शिकायतें करते हैं तो कैफियत दी जाती है कि फोन करने लायक कोई बात ही नहीं तो वे फोन पर क्या कहते। इस कैफियत से दु:खित होकर दादाजी उन्हें सलाह देते थे कि भैया, बेवजह ही उनसे संपर्क साध लिया करो, उनके हालचाल पूछ लिया करो। यह सुविधा जब घर-घर में हो गई है तो इसका लाभ उठाया करो। उनके इस तर्क के सभी कायल होते थे; मगर इसपर अमल नहीं करते थे। नेताओं जैसे थोथे आश्वासन ही देते रहते थे। अतएव उन्होंने यह मान लिया था कि

लेखक परिचय

जन्म : ५ नवंबर, १९२४।

शिक्षा : एम.ए. (राजनीति विज्ञान)।

प्रकाशित कृतियाँ : अभी तक चार कहानी-संग्रह, छह उपन्यास, मालवा की लोककथाओं एवं लोकगीतों के संग्रह, प्रौढ़ एवं नवसाक्षरों के लिए पाँच छोटी-छोटी कृतियाँ एवं ऐसी ही अन्य विधाओं की कृतियों को मिलाकर कुल बीस कृतियाँ प्रकाशित एवं चर्चित। कुछ रचनाओं का पंजाबी एवं उड़िया में अनुवाद।

पुरस्कार : मध्य प्रदेश हिंदी साहित्य सम्मेलन द्वारा उपन्यास 'ताना-बाना' को वर्ष १९९३ का 'वागीश्वरी पुरस्कार', उपन्यास 'धापू' को १९९४ का 'निर्मल पुरस्कार', उपन्यास 'काली कोठी' को मध्य प्रदेश साहित्य परिषद् का वर्ष १९९४ का 'विश्वनाथ सिंह प्रादेशिक पुरस्कार' एवं वर्ष १९९९ का मध्य प्रदेश लेखक संघ का 'अक्षर आदित्य सम्मान' प्राप्त।

इस बारे में किसी से भी कहना निरर्थक है। सभी आत्मकेंद्रित हो गए हैं। सब अपने में ही मगन रहते हैं। दादाजी की चिंता वे क्यों करने लगे। दादाजी के हालचाल पूछकर वे अपने पैसों की बरबादी क्यों करने लगे। फोन में पैसे खर्च होते हैं। फोन कोई फोकट में नहीं होते हैं। यही सबकुछ सोचकर दादाजी ने अब किसी से भी फोन का आग्रह करना बंद कर दिया था। अपनी ओर से फोन करने में भी उनकी रुचि अब नहीं रही थी। वे अपने आपको समझाने लगे थे कि दूसरों को जब उनमें कोई रुचि नहीं है तो वे उन्हें व्यर्थ ही क्यों डिस्टर्ब करें। उनका फोन भी कोई फोकट का थोड़े ही है। निजी है, इसमें गाँठ से खर्च होता है। जिनके यहाँ सरकारी या गैर-सरकारी प्रतिष्ठानों द्वारा फोकट की ऐसी सुविधा है, वे भी जब उनके प्रति उदार नहीं बन पाते हैं तो वे ही उनके लिए क्यों बावले बनें। ताली एक हाथ से नहीं बजती।

अपनी ऐसी मानसिकता के बावजूद दादाजी कभी-कभी अपने किसी परिचित, रिश्तेदार, अपने पुराने सहयोगी आदि को किसी बहाने टेलीफोन कर ही बैठते थे। बाद में पछताते थे कि यह मूर्खता उन्होंने व्यर्थ ही की। दुनिया यदि स्वार्थी हो गई तो वे दूसरों के प्रति इतने उदार क्यों बनते हैं। जैसे के साथ तैसा ही व्यवहार होना चाहिए।

मगर अपनी इस कमजोरी पर वे पूरी तरह से नियंत्रण नहीं कर पाते थे। अपने भीतर के सन्नाटे से क्षुब्ध होकर वे किसी-न-किसी को फोन कर अपनी यह भड़ास शांत कर लेते थे। उन्होंने दफ्तर के अपने पुराने सहयोगियों, मित्रों, परिचितों, नाते-रिश्तेदारों आदि के टेलीफोन नंबर अपनी एक डायरी में करीने से लिख रखे थे। उनके भीतर का सन्नाटा जब उन्हें बहुत उद्वेलित करने लगता था, तब वे अपनी इस टेलीफोन डायरी के पन्ने पलटने लगते थे। इसमें के हर नाम पर सरसरी नजर डालते हुए वे इनमें से कुछ पर तल्ख प्रतिक्रिया भी मन-ही-मन व्यक्त करते रहते थे। किसी को झूठा तो किसी को मक्कार, किसी को स्वार्थी तो किसी को एहसान-फरामोश इत्यादि निरूपित करते जाते थे। इनके चेहरे उनके मनश्चक्षु के सम्मुख तैरते रहते थे। इन लोगों द्वारा उनकी की जा रही उपेक्षा उन्हें खलती रहती थी। जिनपर उनके उपकार थे, उनका

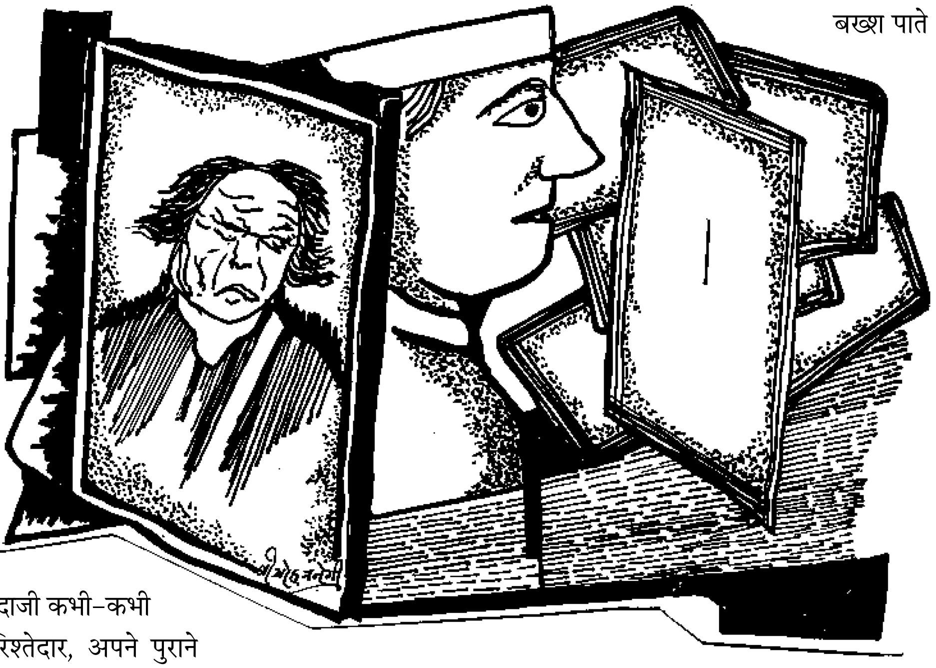

बदला व्यवहार उन्हें विशेषकर दु:खित करता रहता था। जो लोग काम पड़ने पर उन्हें याद करते रहे थे और काम निकल जाने पर उन्हें भूल गए थे, उनकी यह स्वार्थी मनोवृत्ति उन्हें विशेषकर उद्वेलित करती रहती थी। तब इस उधेड़बुन से परेशान होकर ये वह डायरी बंद कर देते थे। एक टीस-सी उनके भीतर से फूट पड़ती थी कि दुनिया इतनी बदल क्यों गई? जरा से सौजन्य से भी क्यों कतराने लगे? वे एक टेलीफोन के योग्य भी नहीं रहे! बूढ़े हो जाने पर उनका इतना अवमूल्यन हो गया!

अपने बेटे-बहू से बातें हो जाने के बाद जब कोई उन्हें टेलीफोन पर बुलवाता था तो इस जूठन या बचत-खुचत पर उन्हें प्रसन्नता के बजाय बुरा ही लगता था। उनका मन होता था कि इस फोनवाले से बातें न करें। मगर फिर अपना मन मारकर वे सौजन्यवश 'हलो' कहने को उठ आते थे। यों उठ जाने के बाद भी उनका शिकायती लहजा ऐसे अवसरों पर फूट ही पड़ता था। तब वे शिकायतों का जैसे पिटारा-सा खोलकर सामनेवाले की परेड लेने लगते थे। वह बेचारा जैसे-तैसे इनसे पिंड छुड़ा पाता था। कोई विशेष प्रसंग होने पर ही वे ऐसे स्मरण करनेवालों को शिकायतों की मार से बख्श पाते थे।

ऐसे विशेष प्रसंगों के संदर्भ में उन्हें प्रारंभ से ही स्मरण किए जाने पर भी उन्हें वैसी प्रसन्नता नहीं होती थी जैसी कि बिना किसी विशेष संदर्भ के उन्हें स्मरण किए जाने पर होती थी। ऐसे टेलीफोनों को ही वे सच्चा फोन मानते थे। दूसरे सारे फोन उन्हें नकली एवं औपचारिक खानापूर्ति लगते थे।

लेकिन उनकी व्यथा यही थी कि ऐसे सच्चे एवं अनौपचारिक फोन उनके लिए यदा-कदा ही आते थे। कभी-कभी तो पूरा महीना बीत जाने पर भी उनका ऐसा फोन नहीं आता था। तब वे मन-ही-मन विलाप करने लगते थे कि वे अपनों के लिए भी इतने गैर हो गए।

टेलीफोन के संदर्भ में ऐसी विषम स्थिति होते हुए भी दादाजी अपने घर में गूँजनेवाली टेलीफोन की हर घंटी की ओर ध्यान देते हैं। वे अपनी जीवनसंगिनी के निधन के बाद अपने जीवनसाथी बने ट्रांजिस्टर के कान उमेठकर उसकी आवाज ऐसे अवसरों पर धीमी कर देते

हैं। फिर वे टेलीफोन पर कान देते हैं। आहट लेते हैं कि किसने टेलीफोन उठाया, कौन बातें कर रहा है। जब कोई टेलीफोन नहीं उठाता है तो वे मन-ही-मन झुँझलाते हैं। उन्हें आश्चर्य होता है कि लगातार घंटी बजे जा रही है, फिर भी किसी ने चोंगा क्यों नहीं उठाया। बहरे हो गए क्या? ऐसे किस काम में व्यस्त हैं, जो चोंगा उठाने की भी फुरसत नहीं निकाल पा रहे हैं। सामनेवाला सोचेगा कि घर में शायद कोई है नहीं। प्रतीक्षा करते-करते वह टेलीफोन बंद कर देगा। ये लोग टेलीफोन को महत्त्व ही नहीं दे रहे हैं; टेलीफोन का निरादर कर रहे हैं। इनके टेलीफोन आते हैं, इसलिए टेलीफोन की इन्हें परवाह नहीं है। खुली टोंटी से बहते पानी की तरह फोन की घंटी टनन-टनन किया करती है। वे शाही चाल से उठकर चोंगा उठाते हैं। इस बीच फोन की पुकार बंद हो जाए तो वह फिर फोन करेगा। घंटी जब बहुत देर तक बजती रहती थी तो दादाजी का मन होता था कि वे उठा लें चोंगा। इस पुकार को वे सुन लें। मगर यह सोचकर मन मारते थे कि टेलीफोन तो इन चारों में से ही किसी का होगा। उनका तो होगा नहीं। अतएव इनके लिए गला फाड़ना पड़ेगा। इस माथा-पच्ची से तो यही बेहतर है कि वे चुप रहें और तमाशा देखें।

मगर दोपहर के समय जब वे चारों प्राणी घर में नहीं होते हैं तब टेलीफोन की इस कशिश को वे रोक नहीं पाते हैं। घंटी बजते ही वे तपाक से उठते हैं और टेलीफोन की ओर लपकते हैं। लपकते हुए बोलते रहते हैं, 'आ रहा हूँ, भैया, सबर करो।' मगर वहाँ पहुँचने के पूर्व ही कामवाली काशीबाई वहाँ पहुँच जाती है और बड़े मजे से फोन पर बतियाने लगती है। दादाजी अपना सा मुँह लिये लौट आते हैं। कभी-कभी वहीं खड़े-खड़े सुनने लगते हैं। बातें खत्म होने पर काशीबाई से पूछते हैं कि किसका था? उनका तो नहीं था? सारी जानकारी प्राप्त कर लौटते हैं।

चोंगा रखकर वे पतोहू पर झल्लाए, 'तुमने मुझे देरी से बुलाया। टेलीफोन कट गया। किसका था?'

'दादाजी, किसने कहा था कि आपका फोन है?'

'कैसी बातें कर रही हो। तुमने खुद आवाज लगाई थी कि 'दादाजी, आपका फोन।' इसीलिए मैं उठा। नहीं तो मैं क्यों जाता!'

पतोहू की हैरानी और बढ़ी, क्योंकि उन्होंने दादाजी को अभी ऐसी कोई जानकारी दी ही नहीं थी। उसने विनम्र स्वर में कहा, 'दादाजी, सच मानिए, मैंने आपको अभी ऐसी कोई जानकारी नहीं दी। मैं तो अपने दफ्तर के काम में...'

काशीबाई से वे जब-तब कहा करते हैं कि वह इतनी फुरती न दिखाया करे। फोन उनके लिए भी छोड़ा करे। इसके जवाब में काशीबाई मुसकराकर कह देती है, 'दादाजी, मैं तो आपको इस कष्ट से बचाने को दौड़ती हूँ। आप यदि सुनना चाहते हो तो मैं नहीं सुनूँगी।'

दादाजी का मन तो होता था कि काशीबाई से साफ कह दें कि तू दोपहर में दखल न दिया कर, मुझे सुनने दिया कर। मगर वे खुलकर ऐसा कह नहीं पाते हैं; क्योंकि बार-बार उठकर दौड़ना उनके लिए सहज नहीं था। इसके अलावा उन्हें इस बात का भी मलाल रहता था कि यों भले ही वे दौड़ें, मगर उनका फोन तो आने से रहा। फोन दूसरों के ही होंगे। अतएव व्यर्थ की दौड़-धूप करने में क्या तुक है। यही सबकुछ सोचकर वे आधे-अधूरे मन से ही काशीबाई को रोक पाते हैं। अतएव वह उन्हें फोन अटेंड करने के कष्ट से बचाने को उद्यत रहती है। दादाजी को आते देख कभी-कभी रुक भी जाती है। तब दादाजी फोन सुनते हैं। मगर ऐसे फोन से उन्हें निराशा ही होती है; क्योंकि वे उनके नहीं निकलते हैं। दूसरे का फोन सुनना उन्हें ओस चाटकर प्यास बुझाने जैसा प्रयास लगता है। इसी हताशा से वे काशीबाई के जिम्मे ही वह काम सौंप देते हैं। मगर फिर घंटी बजते ही वे उठते हैं। काशीबाई और उनमें फोन सुनने की प्रतिस्पर्धा-सी फिर होती है। फोन की कशिश को वे अनसुनी नहीं कर पाते हैं। अपनी इस मूर्खता पर कुपित होते हैं। मगर टेलीफोन की घंटी बजते ही फिर वही मूर्खता करने लगते हैं। काशीबाई को संकेत से रोककर वे चोंगा उठाते हैं। इस ओस को वे फिर चाटते हैं। इसी पर संतोष करते हैं।

जिस किसी रोज दादाजी का फोन आ जाता है तो उन्हें सूचित किया जाता है—'दादाजी, आपका फोन।' तब वे जैसे निहाल हो जाते हैं। अपनी धोती की ढीली काँच कसते हुए वे बुदबुदाते हैं, 'आज तो कमाल हो गया। किसने मुझे याद कर लिया?'

यों बुदबुदाते हुए वे टेलीफोन की ओर झपटते हैं। घर के लोग उन्हें समझाते हैं कि टेलीफोन भाग नहीं रहा है। आप आराम से आइए। मगर वे झपटते हुए ही बढ़ते हैं। फोन पर 'हलो' कहते हुए वे निराले सुख का अनुभव करते हैं।

मगर ऐसे सुख के अवसर दादाजी को यदा-कदा ही प्राप्त होते हैं। आमतौर पर तो उन्हें इस सुख के लिए तरसना ही पड़ता है। घर में सभी के फोन आते हैं। काशीबाई तक के आते हैं। केवल उनका ही फोन नहीं आता। उन्हें फोन करने की किसी को सुध ही नहीं रहती है। संचार-माध्यमों में आई क्रांति के बावजूद वे सारी दुनिया से जैसे कटे-कटे से ही जी रहे हैं। उनके आस-पास फोन की घंटियाँ प्राय: बजती रहती हैं। वे उन्हें उद्वेलित करती रहती हैं। मगर वे असहाय-से तमाशा देखा करते हैं। वह सहज सुख भी उनके लिए दुर्लभ हो गया।

एक रोज दादाजी को नया अनुभव हुआ। हुआ यों कि रोज की तरह रात को वे ट्रांजिस्टर को अपने पेट पर रखे खबर सुन रहे थे। तभी उन्हें लगा कि उनकी पतोहू बोली, 'दादाजी, आपका फोन।' ये शब्द कानों पर पड़ते ही उन्होंने ट्रांजिस्टर बंद कर परे रख दिया और अपनी धोती की काँच ठीक करते हुए वे डाइनिंग टेबल के पासवाले टेलीफोन की ओर लपके। वहाँ जाकर चोंगा उठाया और गद्‌गद स्वर में बोले, 'हलो!' मगर दूसरी ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। उन्होंने फिर कहा, 'हलो!' मगर फिर भी कोई उत्तर नहीं मिला। तभी उनका ध्यान गया कि टेलीफोन में से तो डायल टोन आ रही है। शायद आया फोन कट गया है।

चोंगा रखकर वे पतोहू पर झल्लाए, 'तुमने मुझे देरी से बुलाया। टेलीफोन कट गया। किसका था?'

पतोहू को आश्चर्य हुआ, क्योंकि दादाजी का कोई टेलीफोन अभी आया ही नहीं था। वे सुनने कैसे आ गए। इसलिए उसने सहज ही पूछा, 'दादाजी, किसने कहा था कि आपका फोन है?'

दादाजी ने पहले की अपेक्षा और अधिक झल्लाहट भरे स्वर में कहा, 'कैसी बातें कर रही हो। तुमने खुद आवाज लगाई थी कि 'दादाजी, आपका फोन।' इसीलिए मैं उठा। नहीं तो मैं क्यों जाता!'

पतोहू की हैरानी और बढ़ी, क्योंकि उसने दादाजी को अभी ऐसी कोई जानकारी दी ही नहीं थी। वह तो अपने दफ्तर के काम में उलझी हुई थी। उसने विनम्र स्वर में कहा, 'दादाजी, सच मानिए, मैंने आपको अभी ऐसी कोई जानकारी नहीं दी। मैं तो अपने दफ्तर के काम में…'

'तो फिर मैं क्या झूठ बोल रहा हूँ?' दादाजी ने क्रोधित स्वर में पूछा।

पतोहू ने कैफियत दी, 'मैंने यह कब कहा कि आप झूठ बोल रहे हैं?'

'तुम्हारे कहने का और क्या मतलब है? तुम मेरे कानों से सुनी बात को नकार रही हो।'

'लगता है, आपको भ्रम हो गया।'

दादाजी लगभग चीखते हुए बोले, 'कैसा भ्रम? मैंने अपने इन कानों से तुम्हारी आवाज सुनी। तुमने कहा, 'दादाजी, आपका फोन।' फिर मैं भ्रम कैसे मान लूँ!'

कुछ क्षणों की चुप्पी के बाद पतोहू ने गंभीर स्वर में पूछा, 'आप मेरी बात धैर्य से सुनें तो एक बात कहूँ?'

दादाजी का पारा कुछ उतरा। वे सहज स्वर में बोले, 'कहो?'

'लगता है, आपके कान भी मेरे बूढ़े दादाजी की तरह बजने लगे हैं!'

'क्या मतलब?'

'मतलब यह कि जो आप सुनना चाहते हैं, वह आपको भी सुनाई पड़ने लगा है।'

'ऐसा होता है क्या?'

'मेरे दादाजी के साथ तो यही होता था।'

दादाजी असमंजस की मुद्रा में कुछ देर खड़े रहे, फिर अपने कमरे में लौट गए। कान बजनेवाली इस स्थिति पर वे विचार करने लगे। यों विचार करते हुए उन्हें लगा कि पतोहू की बात शायद ठीक है।

□

ए-५०६, महालक्ष्मी नगर,
इंदौर-४५२०१०

पाठकों से निवेदन

- आपके सक्रिय सहयोग से साहित्य अमृत का प्रकाशन निरंतर हो रहा है। इसके लिए हम आपके आभारी हैं।
- जिन पाठकों की वार्षिक सदस्यता समाप्त हो गई है, वे कृपया अपनी सदस्यता का नवीनीकरण करवा लें। साथ ही अपने मित्रों-संबंधियों को भी इसकी सदस्यता ग्रहण करने हेतु प्रेरित करने की कृपा करें।
- किसी अवसर विशेष से संबंधित लेख भेजते समय कृपया उसे उस अवसर से कम-से-कम तीन माह पूर्व भेजें, ताकि उसे समय रहते प्रकाशन-योजना में सम्मिलित किया जा सके।
- साहित्यिक गतिविधियों के अंतर्गत सूचना-समाचार भेजते समय कृपया कार्यक्रम का स्थान, तिथि आदि भी भेजने का कष्ट करें, ताकि पाठकों को पूरी जानकारी मिल सके।